अंक २३



संस्कृत-पाठ-माला ।

(संस्कृत-भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

भाग तेवीसवाँ ।

—०—

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय-मंडल, किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

—०—

चतुर्थ वार

—०—

संवत् २००७, शक १८७२, सन १९५०

अंक २३



संस्कृत-पाठ-माला ।

(संस्कृत-भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

भाग २३ वाँ ।

—o—

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय-मंडल, किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

—o—

चतुर्थ वार

—o—

संवत् २००७, शक १८७२, सन १९५०

मूल्य ८ आने ।

निरुक्तिका अधिक विचार



गत भागोंमें वैदिक शब्दोंकी निरुक्तिका विचार किया है। उन भागों- के अभ्याससे पाठकोंको वैदिक शब्दोंकी निरुक्तिकी ठीक कल्पना हो गई होगी।

अब इस भागमें उसी निरुक्तिका विषय अधिक स्पष्ट करना है। आशा है कि पाठक इसके अभ्याससे अधिक लाभ उठावेंगे।

स्वाध्याय-मंडल	निवेदक
किल्ला पारडी (जि० सूरत)	श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

मुद्रक और प्रकाशक-व० श्री० सातवळेकर, बी. ए.,
भारत-मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि० सूरत)



संस्कृत-पाठ-माला।

भाग तेईसवाँ।

पाठ १

पुरूरवाः।

'पुरु + रवः' (पुरु) बहुत (रवः) शब्द बोलनेवाला। अर्थात् बहुत वक्तृत्व करनेवाला वक्ता, वादविवादमें कुशल।

यह इसका अर्थ मनुष्य-विभागमें लगनेवाला है। इसका दूसरा भी अर्थ है जो मेघमें लगता है। मेघका शब्द बडा भारी होता है उस शब्द करनेवाले मेघका यह नाम है। इसका उदाहरण यह है-

महे यत्त्वा पुरूरवो रणाय।
अवर्धयन्दस्युहत्याय देवाः॥ (ऋ० १०।९५।७)

'हे (पुरू-रवः) हे बडे शब्द करनेवाले! (यत् त्वा देवाः) जब तुझे देव (महे रणाय) बडे संग्रामके लिये और (दस्यु-हत्याय) शत्रु-नाशके लिये (अवर्धयन्) बढाते हैं।'

जिस समय इस मंत्रका अर्थ मनुष्यवाचक होगा उस समय यह अर्थ होगा-' हे गंभीर आवाजवाले वीर! व्यवहार चलानेवाले पुरुष बडे युद्धमें शत्रुविनाश करनेके लिये तुझे संवर्धित करते हैं।'

*

'देव' शब्दका अर्थ 'व्यवहार चलानेवाले लोग' ऐसा है क्योंकि देव शब्दमें 'दिव्' धातु 'विजिगीषा-व्यवहार' आदि अर्थोंवाला है।

जब यह मंत्र मेघवाचक होगा उस समय इसका अर्थ इस प्रकार होगा- 'हे बडा शब्द करनेवाले मेघ! ये सब वायुदेव बडे तेजके लिये तथा अकालादि दुष्ट शत्रुओंके निवारणके लिये तुझे बढाते हैं।'

पाठक यहां दोनों अर्थोंकी तुलना करें और देखें, कि यह मेघोंकी अन्योक्ति है अर्थात् मेघोंके उद्देशसे वीरोंका धर्म बताया है। मरुत् ये वायुदेव प्रसिद्ध हैं। इनका संबंध मेघोंके साथ है।

पाठक वेदमंत्रोंमें यह अन्योक्ति अलंकार देखें और स्वयं इसका अधिक मनन करें; तब वेदकी गंभीरता स्वयं उनके ध्यानमें आजायगी। वेदमें यह अलंकारका विषय बडा महत्त्वका है और यह जाननेसे वेदका गुह्य अर्थ प्रकट हो सकता है।

सोम

सोम देवता प्रसिद्ध है, इसके अर्थ भी अनेक हैं, सोमवल्ली, चंद्र, विद्वान्, आत्मा, परमात्मा इत्यादि। इसका उदाहरण देखिये—

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन। (ऋ. १०।८५।३)

'(यत् ओषधिं संपिंषन्ति) जिस औषधिको साधारण लोग पीसते हैं, तथा (सोमं पपिवान् मन्यते) सोम मैंने पिया ऐसा जो साधारण लोग मानते हैं, वे गलतीपर हैं। (यं सोमं ब्रह्माणः विदुः) जिस सोम-को ब्राह्मण लोग सोम समझते हैं (तं कश्चन न अश्नाति) उसको कोई नहीं पी सकता।'

इस मंत्रमें यज्ञ करके ही सोमपान करनेकी सूचना है। यद्यपि सोम एक दिव्य औषधिका रस है तथापि उसका पान विधिपूर्वक करना चाहिये। विधिको छोडकर केवल औषधिका रस पीनेका नाम सोमपान नहीं है। यह तो यज्ञविषयक अर्थ हुआ। इसलिये इसको अधियज्ञ अर्थ कहते हैं।

" सोमको जो लोग पीसते हैं, रस निकालते हैं और समझते हैं कि हमने सोम पिया वे गलतीपर हैं क्योंकि जिसको ब्राह्मण लोग सोम समझते हैं वह सच्चा सोम चंद्रमा है; उसका रस कोई भी देवोंसे भिन्न नहीं पी सकता। " यह देवताविषयक अर्थ है इसलिये इसको अधिदैवत अर्थ कहते हैं। इस अर्थका ठीक प्रकार विचार मनमें स्थिर होनेके लिये यही अर्थ अध्यात्म भूमिकामें देखिये–

" साधारण लोग सोमको पीसते हैं, रस निचोडते हैं और समझते हैं कि हमने सोम पिया, परन्तु वे गलतीपर हैं। वास्तवमें ब्रह्मज्ञानी जिसको सच्चा सोम कहते हैं, वह चंद्र (का अंशभूत शरीरमें मन) है, जिसका पान सब इंद्रियां कर रहीं हैं। "

यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि सोम शब्दके अर्थकी भिन्नतासे मंत्रका अर्थ सबका सब बदलता है। सोम शब्दका अर्थ यह है सोमवल्ली, औषधि, चंद्र, मन, ज्ञानी गुरु, आत्मा, परमात्मा इ०। इन अर्थोंमें सोम औषधिका अर्थ तो सब जानते ही हैं; परन्तु अन्य अर्थ सब लोगोंके ध्यानमें नहीं आ सकते। सोमका अर्थ चंद्र भी है परन्तु चंद्रका प्रतिनिधि अंशसे हमारे शरीरमें मनरूपमें है, यह मुख्य बात लोग भूल जाते हैं। जिस प्रकार सोम (चंद्र) के साथ सूर्य आदि अन्यान्य देवोंका संबंध है उसी प्रकार शरीरके अंदर सोमका अंशरूप प्रतिनिधि मनरूपी है और उसका संबंध सब नेत्रादि इंद्रियोंके साथ है।

मनकी शक्ति संपूर्ण इंद्रियोंमें आती है यह बात जो जानता है उसको " मनका रस संपूर्ण इंद्रियां पीती हैं " यह वेदका कथन ठीक रीतिसे समझमें आ सकता है और वही भाव " सोमरस सब देव पीते हैं। " इस वेदवाक्यमें देखनेमें पाठक समर्थ होंगे।

सोममें " स+उमा " ये दो शब्द हैं। उमा का अर्थ " रक्षक विद्या " है। इस रक्षक विद्यासे जो युक्त होता है वह (स+उमा = सोमः) ज्ञानी है। इस ज्ञानीरूपी सोमका रस शिष्य निकालते हैं और पीते हैं। ज्ञानी

सोमका रस " विद्यारस " ही है और हरएक पाठशालामें शिष्यवर्ग गुरुका यह विद्यामृतरस पीते हैं। सब लोग इस " सोमपान " को जानते हैं। इस प्रकार सोमपानकी अनेक विधियाँ हैं। जो इन सब विधियोंको जानता है वही वेदके तत्त्वको समझ सकता है।

पाठ २

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ २१॥
(अ० ११।४)

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त, (सहस्राक्षरं) सहस्र अथवा हजारों अविनाशी धाराओंसे पूर्ण और (एकनेमि) एक केंद्रवाला यह प्राणयंत्र (प्र-पुरः) आगे और (नि-पश्चा) पीछे (वर्तते) होता रहता है। इसने (अर्धेन) आधेसे ही (विश्वं भुवनं) सब भुवन (जजान) उत्पन्न किया है। और जो इसका शेष (अर्धं) अर्ध है, (सः) वह (क-तमः) कौनसा (केतुः) चिन्ह है ?

शरीरमें हृदयस्थानीय मानस सरोवरके पीछे एक पर्वत है, जिसका नाम मेरु पर्वत, मेरुदंड अथवा पृष्ठवंश है। इसमें आठ चक्र हैं, उनके नाम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्राक्षर हैं। एक ही नाभिमें इनका मध्य केन्द्र है, और प्रत्येक चक्रके सैकडों आरे चारों दिशाओंमें जाते हैं। इस प्रकार यह 'मज्जातन्तु-संस्थान' अपने शरीरमें है।

यह प्राणचक्रका वर्णन है। यह प्राणचक्र आगे और फिर पीछे चलता है। आगे पीछे चलनेका तात्पर्य श्वास और उच्छ्वासकी गति परस्पर विरुद्ध है, इसलिये वह गति (प्र पुरः नि पश्चा) आगे और पीछे इन शब्दोंसे व्यक्त की है।

प्राणायामद्वारा विशेष रूपसे और श्वासोच्छ्वासद्वारा साधारण रीतिसे प्राणशक्ति उक्त आठों चक्रोंमें पहुंचती है। प्राणका एक भाग शरीरके साथ संलग्न है और दूसरा आत्माके साथ लगा है। यह बतानेके लिये उक्त मंत्रमें कहा है, कि संपूर्ण स्थूल भुवन (शरीर) एक भागसे उत्पन्न करके अवशिष्ट भागसे किसकी सूचना करता है ? अर्थात् वह आत्माकी सूचना देता है, यह इस प्रश्नका उत्तर है। इस प्रकार यह प्राणका अत्यंत मनोरम वर्णन इस मंत्रमें है, वह बहुत ही विचार करनेयोग्य है। इस प्रकारके श्रेष्ठ प्राणको नमन अगले मंत्रमें किया है।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

(अ० ११।४)

हे प्राण ! जो (विश्वजन्मनः) सबका जन्म देनेवाले (चेष्टतः अस्य विश्वस्य) हलचल करनेवाले इस जगत्का (ईशे) स्वामी है, तथा (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्र-धन्वने) शीघ्र गति देनेवाले (तस्मै ते नमः अस्तु) तुझको नमस्कार हो।

हलचल करनेवाले सब प्राणियोंका प्राण ही स्वामी है, तथा यह संपूर्ण अन्य पदार्थोंको भी प्रेरित कर रहा है। यह इसका विश्वव्यापक कार्य देखना चाहिये।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

(११।४)

जो प्राण (सर्व-जन्मनः) सब जन्म लेनेवाले (चेष्टतः सर्वस्य) और हलचल करनेवाले सब प्राणीमात्रका ईशन कर रहा है। तथा जो (अ-तन्द्रः) आलस्यरहित है, तथा (ब्रह्मणा धीरः) आत्माके साथ संयुक्त होनेके कारण धैर्यमय है, वह प्राण (मा) मेरे (अनु तिष्ठतु) साथ ठहरा रहे।

प्राण सब प्राणियोंका स्वामी है। प्राण है इसलिये इनको "प्राणी" कहते हैं। प्राण न होगा तो प्राणी भी नहीं होगा। यह प्राण जन्मसे मरने तक अपना कार्य करता है, इसलिये यह आलस्यरहित है। इसकी सुस्तीका ही नाम मृत्यु है। इसका एक भाग स्थूल शरीरमें कार्य करता है और दूसरा आत्माके साथ रहता है। आत्माके साथ रहनेके कारण ही यह प्राण अधिकसे अधिक बल रखता है। इस प्रकार बलवान् प्राण अपने अंदर रहे यह हरएककी इच्छा होना स्वाभाविक ही है।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥
(अ. ११।४)

(सुप्तेषु) सब सोनेपर भी यह प्राण (ऊर्ध्वः जागार) खडा रहकर जागता है। (ननु) कभी नहीं (तिर्यङ्) तिरछा होकर (निपद्यते) लेटता है। (सुप्तेषु) सबके सोनेपर (अस्य सुप्तं) इस प्राणका सोना (कश्चन) किसीने भी (न अनु शुश्राव) सुना नहीं।

सब प्राणी थक जानेपर सो जाते हैं, परन्तु उनके सो जानेपर भी यह प्राण खडा रहकर जागता और पहरा करता है। जैसे इतर प्राणी थक जानेपर लेट जाते हैं, उस प्रकार यह प्राण कभी भी लेटता नहीं, अर्थात् विश्राम न करता हुआ सदा अपना कार्य करता रहता है। सब अन्य इंद्रियां थक जाती हैं और विश्राम लेनेके लिये सो जाती हैं, उस प्रकार यह कभी थकता नहीं और न कभी विश्राम लेता है, उसके थकने और विश्राम लेनेका तात्पर्य मृत्यु ही है। जन्मसे मृत्युतक यह विश्राम न लेते हुए अपना कार्य करता है।

प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥
(अ. ११।४)

हे प्राण ! (मत्) मुझसे (मा पर्यावृतः) पृथक् मत् हो। (मद् अन्यः) मुझसे भिन्न अर्थात् दूर (न भविष्यसि) तू न होगा। (अपां गर्भं इव) पानीके गर्भके समान, (जीवसे) दीर्घ जीवनके लिये मैं (मयि) अपनेमें (त्वा बध्नामि) तुझको बांधता हूं।

प्राण शरीरसे पृथक् नहीं होना चाहिये, क्योंकि वैसा पृथक् होनेसे मृत्यु ही होगी। मनुष्यको दीर्घ जीवन प्राप्त करना है, इसलिये प्राणायामद्वारा प्राणका बल बढाकर प्राणको मानो अपने अन्दर बांधकर रखना चाहिये, ताकि वह शीघ्र दूर न हो सके।

' मैं प्राणशक्तिको अपने अन्दर बढाऊंगा ' इस प्रकारकी भावना मनमें स्थिर करनेसे आत्मविश्वास बढनेके कारण प्राणका भी बल बढ जाता है। यह उपदेश मंत्रके वाक्योंमें स्पष्ट है।

जीवनके लिये जैसी जलकी, उससे भी अधिक प्राणकी आवश्यकता है, यह बात यहां स्पष्ट होती है।

प्रयत्न करके अपने अन्दर प्राणका बल बढाया जा सकता है और प्राणके बलकी वृद्धि करनेसे अपमृत्युको दूर किया जा सकता है, अर्थात् पुरुषार्थसे आयुष्यकी वृद्धि होना संभव है; यह बात इन मंत्रोंके वाक्योंका विचार करनेसे स्पष्ट हो जाती है।

पाठ ३

चन्द्रमाः।

इस शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियां हैं उनमेंसे कुछ यहां देखिये—

१ चायन् द्रमति = चान् + द्रम = चन्द्रमाः = कृपा करता हुआ चलता है।

२ चन्द्रः माता = चन्द्रमाः = तेजस्वी होता हुआ मापन करता है अर्थात् कालका मापन करनेके लिये सहायक होता है।

३ चान्द्रं मानं अस्य = चान्द्र-वर्षका निर्माण करता है।

चन्द्रः ।

चन्द्र शब्दकी व्युत्पत्तियां भी अनेक हैं देखिये—

१ चन्दतेः चन्द्रः = आल्हाददायक होता है।

२ चारु द्रमति = सुंदरताके साथ गमन करता है।

३ चिरं द्रमति = देरसे चलता है अर्थात् धीरे धीरे चलता है।

४ चम्यते इति चम्+द्रम = पिया जाता है अर्थात् कृष्णपक्षमें यह कान्तिहीन होता हुआ चलता है।

चन्द्र शब्दसे ही चन्द्रमा शब्द बनता है। जिसकी व्युत्पत्ति इसके पूर्व बतायी है, अब इसका उदाहरण देखिये—

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
(ऋ० १०।८५।१९)

"(चन्द्रमा जायमानः नवः नवः भवति) चन्द्र शुक्लपक्षमें उदित होता हुआ नया नया होता है। (अह्नां केतुः) यह दिनोंका झंडा है अर्थात् यह दिनोंका ज्ञापक है। (उषसां अग्रे एति) उषःकालके पूर्व ही कृष्णपक्षमें उदय होता है। (आयन् देवेभ्यः भागं वि दधाति) यह आता हुआ देवोंको भाग देता है अर्थात् इष्टियां होनेके कारण यह भाग देता है। तथा (चन्द्रमाः दीर्घं आयुः प्र तिरते) चन्द्र दीर्घ आयु देता है"।

मृत्युः ।

"मृ" धातु मरनेके अर्थमें है। उस धातुसे मृत्यु शब्द बनता है। इसका अर्थ प्रसिद्ध है। इसका उदाहरण यह है—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्
(१०।१८।१)

" हे मृत्यो ! (परं अनुपन्थां परेहि) श्रेष्ठ अनुकूल मार्गपरसे हमें ले चल, (यः ते देवयानात् इतरः स्वः) जो कि तेरा देवयानसे भिन्न दूसरा अपना है। (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) देखनेवाले और सुननेवाले तुझे मैं यह कहता हूं । (नः प्रजां मा रीरिषः) हमारी सन्तानोंको मार्गमें नष्ट मत कर (उत मा वीरान्) और वीर लोगोंको भी नष्ट मत कर। "

जो देव मृत्युसे संहार करता है उसकी प्रार्थना दीर्घायुत्वके लिये यहां की है।

मरुत् ।

मरुत् शब्दकी व्युत्पत्ति इससे पूर्व बता दी है। परंतु दृढीकरणके लिये यहां पुनः देते हैं—

(१) मित + रावी = (मा+रु)= मरुत् = मितभाषी।

(२) मित + रोचन = (मा+रुच्) = परिमितताको चाहनेवाले।

(३) मरुत् + द्रवन्ति = म + द्र (द – र) = म + रद् = मरुत् = बडे चलनेवाले।

इस मरुत् शब्दवाले मंत्रका उदाहरण यह है-

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥

(ऋ० १।८८।१)

" हे (मरुतः) मरुतो ! हे वीरो ! तुम (विद्युन्मद्भिः स्वर्कैः ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः) विद्युतके समान चमकनेवाले, उत्तम तेजस्वी, अश्वोंसे पूर्णः (रथेभिः आ यात) रथोंसे आओ। हे (सुमायाः) उत्तम कारीगरो ! तुम (वर्षिष्ठया इषा) विपुल अन्नके साथ (वयः न) पक्षियोंके समान (न आपप्तत) हमारे समीप आओ !

इसके कई पदोंका अर्थ—

१ स्वर्कः (सु+ अर्कः) = उत्तम तेजसे युक्त।
२ अश्वपर्णः (अश्व-पर्णः) = अश्व जिसको जोते हैं।
३ सु + मायाः = उत्तम कुशलतासे युक्त । माया शब्द कौशल्य अर्थवाला है।
४ विद्युन्मत् = बिजलीसे युक्त, तेजसे चमकनेवाला।
५ ऋष्टिमत् = शस्त्रास्त्रोंसे युक्त।
इस प्रकार इस मंत्रके पदोंका विशेष अर्थ है।

ऋभु

ऋभुका अर्थ पूर्वस्थानमें बताया है। तथापि पुनः स्मरण दिलानेके लिये यहां बताते हैं-

१ उरु + भान्ति = ऋ + भु = ऋभु = विशेष चमकनेवाले।
२ ऋतेन + भान्ति = ऋ + भु = ऋभु = सत्य व्यवहारसे शोभनेवाले।
३ ऋतेन + भरन्ति = ऋ + भु = ऋभु = सत्यसे युक्त होते हैं, सत्य व्यवहार करते हैं।

इसका उदाहरण यह है-

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥
(ऋ०. १।११०।४)

(वाघतः सन्तः मर्तासः) वाहनोंसे जानेवाले सत्यवादी मनुष्य (तरणित्वेन शमी विष्ट्वी) त्वरासे कर्मोंको करनेवाले (अमृतत्वं आनशुः) अमरत्व प्राप्त करते हैं। (सौधन्वनाः सूरचक्षसः ऋभवः) उत्तम धनुष्यधारी उत्तम बुद्धिमान् कारीगर (संवत्सरे धीतिभिः समपृच्यन्त) वर्षभर बुद्धिसे उत्तम कर्म करते हैं।

इस मंत्रके कुछ शब्दोंका विशेष अर्थ—

१ विष्ट्वी (विश्-कर्म करना) = उद्यमी, पुरुषार्थी, कर्म करनेवाले ।
२ शमी = संयमसे कर्म करनेवाले ।
३ सूरचक्षसः (सूर + चक्षस्) = उत्तम दृष्टिवाले, बुद्धिमान् ।
४ सौधन्वनः = (सु-धन्वन्) = उत्तम धनुष्यवाले ।
५ धीतिः = कर्म, धारक कर्म ।
६ तरणिः = (त्वरा-नी) त्वरासे ले जानेवाले ।
७ वाघतः = (वाहत) = वाहनोंसे युक्त, उठाकर ले जानेवाले ।

अंगिरसः ।

इसका उदाहरण यह है—

विरूपास इदृषयस्त इग्दम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥

(ऋ० १०।६२।५)

(वि-रूपासः) विशेष रूपवाले, अर्थात् सृष्टिके रूपको जाननेवाले (इत् ऋषयः) ही ऋषि (ते इत् गम्भीर-वेपसः) वे ही गम्भीरबुद्धिवाले और (ते आङ्गिरसः) वे अंगरसविद्याके जाननेवाले (ते अग्नेः सूनवः) वे अग्निके पुत्रोंके समान तेजस्वी (परि जज्ञिरे) होते हैं ।

इस मंत्रमें कुछ पदोंका विशेष अर्थ—

१ वि + रूपासः = विशेष रूपवाले, सुंदर अथवा विविध रूपोंको यथावत् जाननेवाले ।
२ ऋषि = ज्ञानी, प्रगतिशील ।
३ गंभीर + वेपस् = गंभीर बुद्धि अथवा गंभीर कर्मवाले ।
४ अंगिरसः = अंगमें जो जीवन-रस है उसकी विद्याके जाननेवाले ।

इस प्रकार शब्दोंका अर्थ मनन करते हुए मंत्रोंके अर्थका मनन कीजिये । इस प्रकार मनन करनेसे ही मंत्रके गूढार्थका ठीक ठीक पता लग सकता है । आशा है कि पाठक इस रीतिसे मंत्रोंके अर्थोंका मनन करके वेदके मंत्रोंसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करेंगे ।

पाठ ४

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः । (अ. २।१५।१)

जिस प्रकार द्युलोक और पृथिवी (न बिभीतः) डरते नहीं इसलिये (न रिष्यतः) नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे (मे प्राण) मेरे प्राण ! (मा बिभेः) तू मत डर ।

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः । (अ. २।१५।२)

जिस प्रकार (अहः) दिन और रात्री नहीं डरते, इसलिये नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अ. २।१५।३)

जिस प्रकार सूर्य और चंद्र डरते नहीं इसलिये हानिको नहीं प्राप्त होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अ. २।१५।४)

जिस प्रकार (ब्रह्म) ज्ञान और ज्ञानी, (क्षत्रं) शौर्य और शूर वीर नहीं डरते, इसलिये नष्ट भ्रष्ट नहीं होते, इस प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अ. २।१५।५)

जिस प्रकार (सत्यं) सत्य और (अनृ-ऋतं) अत्यंत सरलता ये कभी डरते नहीं, इसलिये विनष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ (अ. २।१५।६)

जिस प्रकार भूत और भविष्य डरता नहीं, इसलिये नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ।

इस सूक्तमें स्पष्ट कहा है, कि डर ही नाशका हेतु है । इसीलिये हरएक को निर्भय होकर धर्मकार्य करना चाहिये । डरनेसे शक्तिकी क्षीणता होती है और निर्बलता आती है । अर्थात् जो वारंवार डरते हैं, उनका मन अत्यंत कमजोर होता है । और मन अशक्त होनेपर उस पुरुषमें बल बढनेकी संभावना ही नहीं है ।

वैदिक धर्मके स्त्रीपुरुषोंको यह सूक्त मनन करने योग्य है । यह सूक्त कहता है, कि “ देखो । पृथिवी और द्युलोक, सूर्य और चंद्र आदि सब इसलिये बलवान् हैं, कि वे नहीं डरते । यदि उनमें भीति उत्पन्न होगी, तो उनकी स्थिति नहीं रहेगी । इस प्रकार जो ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं डरते हैं, वे ही शक्तिशाली होते हैं; परन्तु जो डरते हैं, वे क्षीणबल हो जाते हैं । इसलिये प्रत्येक मनुष्य निडर होकर धर्मकार्य करे, आगे बढे और उन्नति प्राप्त करे । ” तात्पर्य यह है, वैदिक-धर्मी मनुष्य सत्य धर्मके पालनके लिये निडर होना चाहिये । अतः गृहस्थी स्त्रीपुरुषोंको उचित है, कि वे अपने बालबच्चोंको बालपनमें ऐसी शिक्षा दें, कि वे निडर होकर बढें और उनके मनमें किसी प्रकारका डरपोकपन न रहे ।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥

(ऋ० १०।१३७।२)

(द्वौ इमौ वातौ) ये दो वायु हैं । एक (वातः सिंधोः आ) वायु हृदयतक चलता है । दूसरा (परावतः आ) बाहरतक चलता है । (अन्यः ते दक्षं आ वातु) एक वायु तुझे बल देवे और (अन्यः यत् रपः परा वातु) दूसरा सब दोषोंको दूर ले जावे ।

श्वास और उच्छ्वास ये दो वायु हैं, जो अन्दर जानेवाला श्वास है, वह बल देता है, और जो बाहर जानेवाला उच्छ्वास है, वह दोषोंको दूर हटाता

है। इस प्रकार दोष दूर करने और बल बढानेके कारण प्राणी जीवित र
और बढते हैं।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ (ऋ० १०।१३७।
अ०४।१३।२)

हे वायु ! (भेषजं आ वाहि) सब दवाइयोंको यहां ले आओ। हे वा(यत् रपः वि वाहि) सब दोषोंको दूर बहा दो। (त्वं हि) तू ही (वि भषजः) सब औषधिरूप है। (देवानां दूतः) देवोंका दूत (ईयसे चलता है।

शुद्ध वायु सब औषधियोंका सार है, इसलिये शुद्ध वायुके सेवनसे स औषधियोंका सेवन होता है। और शुद्ध वायुके सेवनसे ही सब दोष दू होते हैं, इसलिये शुद्ध वायु ही देवोंका दूत है। शुद्ध वायुके सेवनसे प्राय सब रोग दूर होकर नीरोगता प्राप्त होती है, शुद्ध वायु ही जीवनका हे है। यह वैदिक प्राणविद्याका तत्व जानकर हरएक मनुष्यको ऐसा प्रय करना चाहिये कि, जिससे प्रतिदिन शुद्ध वायुका सेवन उत्तम प्रकार ह सके। किसी प्रकार भी अशुद्ध वायुमें व्यवहार न किया जाय, और शुद्ध वायु सेवनद्वारा अपने अंदर जीवनका बल बढाया जाय।

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥
(ऋ० १०।१३७।४

(त्वा) तेरे पास (शं-तातिभिः) कल्याणके विस्तारके साथ (अथो और (अ-रिष्ट-तातिभिः) अविनाशक शक्तिके साथ (आ गमं) आया हूं (ते भद्रं दक्षं आभार्षं) तेरे लिये कल्याणकारक बल लाया है। और (ते यक्ष्मं) तेरी बीमारी (परा सुवामि) दूर कर दी है।

बीमारको कहनेका मानसिक संदेश यह है। मैं अब तुमको आराम और आरोग्य देता हूं, और सब तुम्हारे दोषोंको हटा देता हूं। तुम अब बलवान

और निरोग हो जाओगे। इस प्रकार विश्वास देनेसे मनुष्य निरोग होनेमें बडी सहायता मिलती है।

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्॥
(ऋ० १०।१६८।१)

(रथस्य) रमणीय (वातस्य) वायुका (महिमानं) महत्त्व (नु) निश्चय से वर्णनीय है। वह वायु (रुजन्) सबको झुकाता हुआ (एति) चलता है। (अस्य घोषः) इस वायुकी गर्जना (स्तनयन्) बडी जोरसे होती है। (दिवि-स्पृग्) आकाशको स्पर्श करनेवाला वायु (अरुणानि) विविध रक्तवर्ण (कृण्वन्) करता हुआ (उत) और (पृथिव्याः रेणुं अस्यन्) भूमिकी धूलि उछलाता हुआ (एति) चलता है।

वायुका महत्त्व अत्यंत है, वायुके कारण आकाशमें विविध लाल रंग प्रतीत होते हैं और जब यह जोरसे चलता है, तब धूलि भी आकाशमें उडती है।

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा॥
(ऋ. १०।१६८।२)

(स-मनं योषाः न) जिस प्रकार जिसपर मन होता है, उस पुरुषके प्रति स्त्री जाती है, उस प्रकार (वि-ष्ठाः) विशेष स्थिर पदार्थ भी (एनं अनु गच्छन्ति) इसकी गतिके अनुसार चलते हैं और इस (वातस्य) वायुकी गतिके अनुसार (सं प्रेरते) हलचल करते हैं। (अस्य विश्वस्य भुवनस्य) इस सब जगत्का यह (राजा) राजा और (देवः) व्यवहार-साधक दिव्य पदार्थ (ताभिः) उन पदार्थोंके (सयुक्) साथ (स-रथं) एक ही रथमें चलनेके समान (ईयते) चलाता है।

यह वायु स्थिर पदार्थोंको भी हिलाता है, जिस दिशासे यह वायु चलता है, उसी दिशासे सब पदार्थ झुकते जाते हैं। इसलिए ऐसा प्रतीत होता

है कि अत्यंत वेगवाले एक ही रथमें वायुके साथ अन्य पदार्थ भी आरूढ हुए हैं।

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव॥
(ऋ० १०।१६८।३)

(अन्तरिक्षे पथिभिः ईयमानः) आकाशमार्गोंसे भ्रमण करनेवाला वायु (कत-मत् चन अहः) किसी दिन भी (न नि विशते) विश्राम नहीं लेता है। (अपां सखा) बादलोंका मित्र (प्रथमजाः) सबसे पहिले उत्पन्न हुआ हुआ (ऋता-वा) जलके मेघोंको चलानेवाला वायु (क्व-स्वित् जातः) कहां भला रहता है और (कुतः आ बभूव) कहांसे प्रकट होता है?

वायु सदा आकाशमें संचार करता है और किसी दिन भी छुट्टी नहीं करता। बादलोंको चलानेवाला यह वायु मेघोंका मित्र है। एक स्थानपर होता हुआ किसी अन्य स्थानमें प्रकट होता है। यह कहांसे आया है?

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥
(ऋ० १०।१६८।४)

(देवानां आत्मा) इन्द्रियोंका जीवनरूप (भुवनस्य गर्भः) उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका केन्द्ररूप (एष देवः) यह देव (यथावशं चरति) अपनी इच्छासे संचार करता है। (अस्य घोषा इत्) इसका केवल आवाज ही (शृण्विरे) सुनाई देता है, (न रूपं) परंतु इसका रूप नहीं दिखाई देता। इस प्रकारके (तस्मै वाताय) वायुके लिये (हविषा) हवनद्वारा पवित्रता (विधेम) करें।

वायु ही सब इन्द्रियोंका प्राण है, सब प्राणियोंका वही आधार है। इसका रूप नहीं दिखाई देता। परंतु आवाजसे इसका पता चलता है। हवनद्वारा इसकी पवित्रता करनी चाहिये।

प्राण शरीरमें है और वायु जगत्में है। शरीरके प्राणका जगत्के वायुके साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। जगत्के व्यापक वायुसे बल प्राप्त करके ही शरीरस्थानीय प्राण अपना कार्य करता है। बाह्य वायु दूषित हुआ अथवा पर्याप्त प्रमाणमें न मिला, तो प्राणी मर जाते हैं। इसलिये इस सूक्तमें कहा है, कि हवनादि द्वारा वायुको शुद्ध करके, उस वायुसे बल प्राप्त करके अपने अन्दर प्राणशक्तिका बल बढाना चाहिये। इस प्रकार प्राणका बल प्राप्त करनेसे दीर्घ आयु, आरोग्य और बल प्राप्त होकर मनुष्य सुखसे यहांका जीवन-क्रम व्यतीत कर सकता है।

पाठ ५

'वाक्' शब्द वाणीका वाचक है। इसके उदाहरण ये हैं—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥

(ऋ. ८।१००।१०)

(यत् अविचेतनानि वदन्ती) जो अप्रत्यक्ष पदार्थोंकी बतानेवाली (देवानां राष्ट्री) देवोंकी प्रकाशक (मन्द्रा) आनंद देनेवाली (वाक् निषसाद) वाणी प्राप्त होती है, वह (चतस्रः ऊर्जं पयांसि दुदुहे) चारों दिशाओंके अन्न और दूध देती रहती है। (अस्याः परमं क्व स्वित् जगाम) इसका परम स्थान कहां है ?

वाणी अप्रत्यक्ष पदार्थोंका भी वर्णन करती है, अग्न्यादि देवोंका वर्णन करती है और मनुष्योंको सब सुख-साधन देती है। चारों दिशाओंमें इससे सुखसाधन प्राप्त हो रहे हैं, इसका प्रारंभिक कारण कहां है, इसका पता लगाना चाहिये। आत्माकी प्रेरणा ही इसका मूल कारण है। वाक्का दूसरा उदाहरण यहां देखिये-

※

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥
(ऋ. ८।१००।११)

(देवाः देवीं वाचं अजनयन्त) देवोंने दिव्य वाणीको उत्पन्न किया। (तां विश्वरूपाः पशवः वदन्ति) उस वाणीको सब आकारवाले पशु बोलते हैं। (सा मन्द्रा) वह आनंददायक वाणी (नः इषं ऊर्जं दुहाना) हम सबको अन्न और रसोंको देती हुई (धेनुः वाक्) गौके समान वाणी (सुष्टुता) प्रशंसित होती हुई (अस्मान् उपैतु) हमारे पास आजाय।

वाणी एक दिव्य शक्ति है, मानो यह देवोंकी बनाई है। पशु, पक्षी, मनुष्य सभी उसको बोलते हैं। यह आनंद देनेवाली वाणी हमारे सुखसाधनोंको बढाती हुई हममें प्रकट हो।

गौ

गौ शब्दका परिचय पाठकोंको है। यह शब्द गत्यर्थक गम् धातुसे बनता है। इसका यह उदाहरण है—

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥
(ऋ. १।१६४।२८)

(मिषन्तं वत्सं गौः अनु अमिमेत्) आंख खोलकर देखनेवाले बछडेके लिये गाय शब्द करती है। (मातवै उ मूर्धानं हिङ् अकृणोत्) प्रेमके लिये निश्चयसे सिरपर हिंकार शब्द करती है। (सृक्वाणं घर्मं अभि वावशाना) सुखके रससे अर्थात् चाटनेसे प्यार करती हुई (मायुं मिमाति) प्रेमका शब्द करती है। और (पयोभिः पयते) दुग्धकी धाराओंसे पुष्ट करती है।

इस मंत्रमें गौका बछडेके साथ जो अपूर्व प्रेम रहता है, उसका काव्यमय वर्णन किया है। इस मंत्रके अलंकारिक रीतिसे बननेवाले दूसरे अर्थ अनेक हैं, परंतु उनका विचार यहां नहीं हो सकता। मेघ और वाणीके अर्थ उनमें

प्रमुख हैं। इस मंत्रके कुछ शब्दोंका विशेष अर्थ—

१ मिषन् = आंख खोलकर देखनेवाला।

२ मातवै = मान्य करनेके लिये, शुद्ध करनेकी इच्छासे, प्रेम करनेके लिये, शुद्ध करनेके लिये। जिह्वासे चाटकर शुद्ध करनेके लिये।

३ सृक्वाणं घर्मं=मुखकी गर्मी, मुखमें जो लाळारस है उसका प्रेम। गौ इसी प्रेमसे बछडेको चाटती है।

४ मायुं = शब्द, आनंद या प्रेमका शब्द, प्यारा शब्द ।

अघ्न्या

'अ + घ्न्या' शब्द 'अहन्तव्य, अहननीय, हनन करनेके लिये अयोग्य, अवध्य' इस अर्थमें आता है। यह गौका वाचक होनेसे गौ अवध्य है, यह भाव स्पष्ट होता है। इसका उदाहरण यह है—

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥

(ऋ. १।१६४।४०)

हे (अघ्न्ये) अवध्य गौ! (सूयवसात् भागवती हि भूयाः) उत्तम घास खानेवाली भाग्यवान् हो, (अथो वयं भगवन्तः स्याम) पश्चात् हम भी भाग्यवन्त बनेंगे। (तृणं अद्धि) घास खा और (आचरन्ती) घूमती फिरती हुई (विश्वदानीं शुद्धं उदकं पिब) सदा शुद्ध जल-पान कर।

गौ सदा उत्तम घास खावे, शुद्ध जल पीवे और तेजस्वी होवे। इसका दूध पीनेसे मनुष्य भी भाग्यवान् होंगे। इस मंत्रके कुछ शब्दोंका भाव अब देखिये—

१ सूयवसाद् = (सु+यवस+अद्) उत्तम घास खानेवाली।

२ भगवन्तः = भाग्ययुक्त, आरोग्ययुक्त, शोभायुक्त।

३ विश्व-दानीं = सर्वदा, सदा ।

४ आचरन्ती = चलनेवाली, घूमनेवाली, भ्रमण करनेवाली ।

इसका दूसरा उदाहरण देखिये—

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥

(ऋ. १।१६४।२७)

(वसूनां वसुपत्नी) वसुओंकी पालनकर्त्री (मनसा वत्सं इच्छन्ती) मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली, (हिंकृण्वती अभ्यागात्) हिंकार करती हुई आती है । (इयं अघ्न्या) यह अवध्य गौ (अश्विभ्यां पयः दुहां) आश्विदेवोंके लिये दूध देवे तथा (सा महते सौभगाय वर्धताम्) वह बडे ऐश्वर्यके लिये बढे ।

इस मंत्रमें गौका महत्त्व उत्तम प्रकार वर्णन किया है ।

अश्विनौ

अश्विदेव द्युस्थानीय हैं । इस शब्दका नित्य द्विवचन होता है । एक-वचन तथा बहुवचन कभी नहीं होता । इस शब्दकी व्युत्पत्तियां इस प्रकार होती हैं—

१ व्यश्नुवाते सर्वं रसेन अन्यो ज्योतिषाऽन्यः = सब व्यापते हैं एक रससे और दूसरा तेजसे ।

२ अश्वैः अश्विनौ = अश्वशक्तियोंसे युक्त होनेके कारण इनको अश्विनौ कहते हैं ।

अश्विदेव कौन हैं ? द्यावापृथिवी हैं, ऐसा कईयोंका मत है । अहोरात्र हैं ऐसा दूसरे कहते हैं । सूर्यचंद्र हैं, ऐसा कई मानते हैं । पुण्य कर्म करने-वाले राजा हैं, ऐसा ऐतिहासिकोंका मत है ।

इसका उदाहरण यह है—

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥ (ऋ. १।२२।१)

(प्रातः-युजौ अश्विनौ) प्रातःकालसे संबंध रखनेवाले अश्विदेवो! (वि बोधय) विशेष रीतिसे जगा दो। (अस्य सोमस्य पीतये) इस सोमके पानके लिये (इह आ गच्छताम्) यहां आओ।

उषस्

' वश् ' इच्छा या कान्ति अर्थवाला धातु है, इससे 'उस' बनकर उससे ' उषा, उषस् ' ये शब्द होते हैं। इसका उदाहरण यह है—

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयं च धामहे॥ (ऋ. १।९२।१३)

हे (वाजिनीवति उषः) हे बलयुक्त उषा! (अस्मभ्यं तत् चित्रं आ भर) हम सबके लिये यह चाहनेयोग्य धन दे, (येन तोकं च तनयं च धामहे) जिससे बालबच्चोंका धारण-पोषण करेंगे।

इस मंत्रके कुछ शब्दोंके अर्थ—

१ चित्रं = (चायनीयं, महनीयं) चाहनेयोग्य, इच्छा करनेयोग्य।

२ वाजिनीवती = अन्नयुक्त, बलशालिनी।

उषःकालका समय बल बढानेवाला है, इसलिये इससे पूर्व उठकर इससे बल प्राप्त करना चाहिये। इस समय सोना कभी योग्य नहीं। जो सोयेगा वह उक्त शक्तिसे वंचित रहेगा।

पाठ ६

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ (ऋ. १०।१८६।१)

(वातः) वायु (भेषजं) रोगनाशक औषधीको (आ वातु) लाता है। वह वायु (शम्भु) शांति देनेवाला और (हृदे) हृदयकी (मयोभु) प्रसन्नता और नीरोगता करनेवाला है, (नः) हम सबकी (आयूंषि) आयु यह वायु (प्रतारिषत्) दीर्घ बनाता है।

शुद्ध वायु रोग दूर करनेवाला औषधि ही है। वही हृदय और मनको शांति देनेवाला है, आनंद-प्रसन्नता उसीसे प्राप्त होती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि ॥
यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे ॥ (ऋ. १०।१८६।२-३)

हे वायो! तू (नः पिता असि) हमारा पिता अर्थात् रक्षक है, (भ्राता) भाई है, और (सखा) मित्र है, इसलिये (जीवातवे) हमारी दीर्घ आयुके लिये सहायता दो। हे (वात) वायो! जो तेरे (गृहे) घरमें अमृतका (निधिः) खजाना रखा है, वह (नः) हमें (जीवसे) दीर्घ जीवनके लिये (देहि) दो। उसकी प्राप्तिसे हम दीर्घ आयुका अनुभव करेंगे।

इस सूक्तमें स्पष्ट कहा है कि वायुके अंदर अमृतका निधि है, और उसकी प्राप्ति होनेसे दीर्घ आयु प्राप्त होती है। वेदका उपदेश इतना सरल है कि उसमें कोई संदेह ही नहीं है। शुद्ध वायुका सेवन करनेसे अमृत प्राप्त होता है। यह बात यदि हरएक मनुष्य जान लेगा, तो वह तंग गलीके तंग मकानमें कदापि निवास नहीं करेगा, और हवादार मकानमें रहकर निःसंदेह दीर्घजीवी बनेगा।

यह वायु-सूक्त ऋग्वेदके दशम मंडलमें है। इसकी देवता वायु और ऋषि 'उलो वातायनः' है। 'वातायन' शब्दका अर्थ 'खिडकी, झरोखा, वारजा, उसारा, दहलीज, ड्योढी, चबूतरा, छत्ता, गुंबजदार घर, मंडपाकार घर, बारादरी, छज्जा, खुली हुई छत, बरामदा'। 'उल' का अर्थ 'खुला, गमन करनेयोग्य, आने जानेवाला, गतिमान्।' उक्त दोनों शब्दोंके अर्थ मिलानेसे 'उलो वातायनः' का अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है- " खुली खिडकी, खुला बरामदा, खुली छत, खुली बारादरी " इत्यादि।

इस विचारसे इस सूक्तमें तो यह बात स्पष्ट हो रही है कि खुली खिडकी रखनेसे उत्तम हवा अन्दर आकर अन्दर रहनेवालोंको अमृतका निधि अर्पण करती है। इसलिये गृहरचना ऐसी होनी चाहिये, कि जिससे खुली हवा घरमें आजाय और घरमें रहनेवालोंको सुख, आरोग्य और दीर्घ जीवन देवे।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥
(अथर्व० ७।५३।५)

(प्राणापानौ) प्राण और अपान (प्र विशतं) अंदर घुसे (इव) जैसे (अनड्वाहौ व्रजं) बैल गोशालामें घुसते हैं। (अयं) यह (जरिम्णः शेवधिः) वृद्धताका निधि (अ-रिष्टः) बीचमें ही नष्ट न होता हुआ (इह) यहां (वर्धतां) बढे।

प्राणायामसे प्राणापानका बल बढता है। प्राणापान बलिष्ठ होनेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥
(वा. य. १९।९०)

(मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (ग्रहाभ्यां) श्वास-उच्छ्वासरूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) प्रवाहमयी सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सर्व शरीर-व्यापक व्यान प्राणका तथा (नस्यानि) नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है।

स्पर्धा करनेवाले शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है, यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और

शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही हैं। यह रोगोंके साथ मेंढेके समान लडता है।

" अविः " शब्दका धात्वर्थ " रक्षक " है। जो सब प्रकारसे रक्षा करता है, वह "अविः" है। इस शरीरकी रक्षा प्राणद्वारा होती है। इसलिये इस प्राणका यहां महत्त्व है। मनुष्यका स्वास्थ्य, आरोग्य, बल, आयु, उत्साह आदि सब प्राणपर ही निर्भर हैं, इसलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने अंदर प्राणशक्तिका बल बढावे और रोगोंके साथ युद्ध कर उनका पराभव करके, स्वास्थ्य-संपादनद्वारा अपना आयु और आरोग्य प्राप्त करे।

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥

(ऋ० १०।५९।६)

' हे असुनीते ! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सकें। हे अनुमते ! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।'

' असुकी नीति ' अर्थात् ' प्राण-धारण करनेकी रीति ' जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्तिहीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है। भोग भोगनेकी अशक्यता होनेपर भी भोग भोगनेकी शक्यता हो सकती है।

'असुनीति' अर्थात् प्राण धारण करनेकी रीति जाननेसे और उसका अनुष्ठान करनेसे प्राणकी शक्ति बढती है। श्वास, उच्छ्वास तथा अंदर और बाहर कुंभक इनका विचार असुनीति अथवा प्राणनीतिके शास्त्रमें होता है। प्राणका संबंध हरएक मनुष्यके साथ होनेसे-हरएकको इस असु-नीति-शास्त्रका अध्ययन और विचार करना चाहिये और हरएकको इस शास्त्रके नियम जानकर, तदनुसार अनुष्ठान करनेद्वारा अपने प्राणका बल बढाना चाहिये।

इस मंत्रमें ' असु-नीति ' के साथ ' सूर्य ' का संबंध वर्णित हुआ है। सूर्यसे ही प्राणशक्ति प्राप्त होती है और दीर्घ आयु भी वही देता है। सूर्यप्रकाशको छोडकर असुनीतिका अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। इसलिये प्राणधारणकी रीतिका विचार और अनुष्ठान करनेवाले अपने आपको सूर्य-प्रकाशसे दूर न रखें।

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥
(ऋ० १०।५९।५)

हे (असुनीते) प्राणनीते ! (अस्मासु) हमारे अंदर (मनः धारय) मनको धारण कर और (जीवातवे) दीर्घ जीवनके लिये आयु (अनु सु प्रतिर) अनुकूलताके साथ उत्तम रीतिसे बढाओ। हमें सूर्यके (संदृशि) दर्शन अर्थात् प्रकाशमें (रारंधि) आनंदपूर्वक रख और घृतसे शरीर बढा।

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहिली बात मनकी धारणाकी है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि, " मैं योगसाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी। " इस प्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये।

(१) घी पीकर शरीरको बढाना, शरीर सुदृढ पुष्ट और बलवान् बनाना (२) सूर्यप्रकाशके साथ अपने शरीरका संबंध रखकर आरोग्य, दीर्घ आयु और उत्साह प्राप्त करना तथा (३) दीर्घ जीवनकी धारणा मनके अंदर स्थिर करना। ये असुनीति अर्थात् प्राणनीतिके शास्त्रके तीन नियम इस मंत्रद्वारा प्रकट हो गये हैं। दीर्घ आयुकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इन नियमोंसे अपना लाभ सिद्ध करें।

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च॥
(अथर्व० १९।४४।४)

हे प्राण ! हमारे प्राणका (त्रायस्व) रक्षण करो । हे (असो)जीवन ! (असत्रे मृड) हमारे जीवनको सुखमय बनाओ । हे (निर्ऋते) अनियम ! (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) अनियमके पाशोंसे (मुञ्च) हमें बचाओ ।

अपनी प्राण-शक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये तथा निर्ऋतिके जालोंसे बचना चाहिये । ' ऋति ' का अर्थ ' प्रगति, उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता' इतना है । इसके विरुद्ध जो कुछ अपवित्र है, वह 'निर्ऋति' नामसे वेदमें प्रसिद्ध है । इस निर्ऋति अर्थात अनियमसे ही सब दुःख और कष्ट होते हैं । इस कारण इस निर्ऋतिके अनियमयुक्त मार्गसे जाना किसी को योग्य नहीं है ।

ऋत अथवा ऋतिके नियमोंसे प्राणका बल बढाना और निर्ऋति अथवा अवनतिके कारणोंको दूर करना, यही उन्नतिका सीधा नियम है । अज्ञानी मनुष्य निर्ऋतिके पाशोंमें बांधे जाते हैं, परंतु ज्ञानी मनुष्य उन पाशोंको तोडकर स्वतंत्रतासे अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं ।

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥
(वा० य० २०।३४)

तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है । मेरे वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है ।

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां ॥ (वा० य० १।२०)
प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे ।
पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ॥ (य० ७।२७)

तू (धान्यं) धन्य है । इसलिये देवोंको धन्य करो । प्राण, उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूं । आयुष्यके लिये दीर्घ मर्यादा धारण करता हूं । मेरे प्राण, व्यान और उदानके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बनो ।

पाठ ७

सूर्या

सूर्यप्रभा 'सूर्या' कहलाती है। इसका उदाहरण देखिये—

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥

(ऋ० १०।८५।२०)

हे (सूर्ये) सूर्यप्रभा ! (सु-किंशुकं शल्मलिं) उत्तम चमकदार निर्मल, (विश्वरूपं हिरण्यवर्णं) नाना आकारवाले सुनहरे रंगोंसे युक्त, (सुवृतं सुचक्रं) उत्तम ढंके हुए और उत्तम चक्रोंसे युक्त (अमृतस्य लोकं आ रोह) अमृतके लोकमें आरूढ हो और (वहतुं पत्ये स्योनं कृणुष्व) यह विवाह पतिके लिये सुखकारी बना।

इस मंत्रके कुछ शब्दोंका विशेष अर्थ अब देखिये—

१ सुकिंशुकं- (सु+किंशुकं) उत्तम पुष्पोंसे शोभित, चमकदार, पुष्पों से सुशोभित।

२ शल्मलिं (शल्+मलि = शल्+ मल) = मलरहित।

३ विश्वरूपं- अनेक आकारोंसे युक्त। अनेक प्रकारकी सुंदर सजावटसे युक्त।

४ हिरण्यवर्णं- सुवर्णके वर्णके समान वर्णवाला।

सूर्य अपनी पुत्री "प्रभा" चन्द्रमाको अर्पण करता है, उस समय यह प्रभा सुंदर रथपर चढकर पतिके घर जाती है। इत्यादि अलंकार इस मंत्रमें पाठक देखें। इस वर्णनके मंत्र वैदिक विवाह-पद्धतिके प्रकाशक होते हैं।

सविता

सविता सूर्यका नाम है। इसकी निरुक्ति इससे पूर्व बतायी है। अब इसका एक और उदाहरण देखिये—

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥
(ऋ० ५।८१।२)

(कविः विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते) कवि संपूर्ण रूपोंको व्यक्त करता है। (द्विपदे चतुष्पदे भद्रं प्रासावीत्) द्विपाद और चतुष्पादोंके लिये कल्याण अर्पण करता है। (वरेण्यः सविता नाकं अख्यत्) श्रेष्ठ सविता सुखको प्रकाशित करता है। (उषसः प्रयाणं अनु वि राजति) उषाके प्रयाणके साथ विशेष प्रकाशता है।

इस मंत्रके कुछ शब्दोंका विशेष स्पष्टीकरण देखिये—

(१) कवि = कवि, दूरदर्शी, बुद्धिमान्। (क+वि) क नाम उदकका और वि नाम चलानेवाला, अर्थात् मेघोंका चालक। सूर्य मेघोंका प्रकाशक होनेसे उसका यह नाम है।

(२) नाक (न+ अ + क) = जहां दुःख नहीं।

सूर्य

सूर्य शब्द भी उसीका वाचक है। इसका उदाहरण यह है-

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ (ऋ० १।५०।१)

(त्यं) उस (जातवेदसं) ज्ञान देनेवाले (देवं सूर्यं) सूर्यदेवको (विश्वाय दृशे) विश्वके दर्शनके लिये (केतवः उद्वहन्ति) किरण ऊपर दर्शाते हैं।

इसी देवताका और एक मंत्र देखिये—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(ऋ० १।११५।१)

(देवानां चित्रं अनीकं उदगात्) यह देवोंका दर्शनीय तेज उदयको प्राप्त हुआ है । यह मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवोंका (चक्षुः) ज्ञापक है अथवा प्रकाशक है । (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं) द्यावा, पृथिवी तथा अंतरिक्षको इस सूर्यने (आ प्राः) परिपूर्ण कर दिया है । (सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा) सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ।

पूषा

पोषण करनेवाली देवता ' पूषा ' कहलाती है । इसका यह उदाहरण है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥
(ऋ० ६।५८।१)

हे (पूषन्) पूषा देव ! (ते अन्यत् शुक्रं) तेरा एक रूप प्रकाशमान है और (ते अन्यत् यजतं) तेरा दूसरा रूप यज्ञमय है किंवा यज्ञसे जो धूवां चलता है उसके समान कृष्णवर्ण है । अर्थात् ये (वि-षु-रूपे अहनी) विरुद्ध रूपवाले दिन (अथवा श्वेत रंगवाला दिन और कृष्ण वर्णवाली रात्रि) ये ही तेरे रूप दीखते हैं । (द्यौः इव असि) द्युलोकके समान प्रकाशमान हो । हे (स्व-धा-वः) अपनी शक्तिसे धारण करनेवाले देव ! (हि विश्वाः मायाः अवसि) संपूर्ण कुशलताओंकी तू रक्षा करता है । (ते भद्रा रातिः इह अस्तु) तेरा कल्याणमय दान यहां हमारे लिये होवे ।

इस मंत्रके कुछ शब्दोंका अर्थ—

१ स्वधावः = स्वधावन् (स्वधा-वन्) = अन्नवान् ।
(स्व + धा + वन्) अपनी धारण शक्तिसे युक्त उदकका धारण करनेवाला ।

२ माया = प्रज्ञान, ज्ञान, शिल्प, कुशलता, कारीगरी।

३ भद्रा (भाजनवती) = योग्य, पात्र, यथायोग्य कल्याण करनेवाली ।

४ रातिः = दान ।

विष्णुः

विष्णु शब्दकी व्युत्पत्तियां इस प्रकार होती हैं—

१ विष्णुः विषितः भवति = जो व्याप्त होता है

२ विशति इति विष्णुः = प्रविष्ट होता है ।

३ व्यश्नोति इति = सर्वत्र व्यापता है।

सर्वत्र व्यापक होना, सर्वत्र प्रवेश करना आदि इसके अर्थ हैं । इसका उदाहरण देखिये—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूळ्हमस्य पांसुरे ॥ (ऋ० १।२२।१७)

(विष्णुः इदं वि चक्रमे) यह व्यापक देव इस सबमें विक्रम करता है । (त्रेधा पदं नि दधे) तीन प्रकार अपने पदको रखता है । (अस्य पांसुरे समूढं) इसका किरण अंतरिक्षमें गुप्त है।

इसका भावार्थ ऐसा है कि विष्णुदेव सर्वत्र व्यापक है, इस कारण वह यहांसे हरएक पदार्थमें अपना विक्रम दर्शाता है । जो तत्त्वज्ञानी लोग हैं उनको व्यापक देवका साक्षात्कार हरएक पदार्थमें होता है । इसका पद तीन स्थानोंमें रखा हुआ है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत्के रूपमें यह अनुभवमें आता है । स्थूल जगत् प्रत्यक्ष होनेके कारण उसमें उसका अनुभव मनुष्य कर सकता है । इसका आदि कारण कुछ अवश्य होगा, ऐसे तर्कसे आदिकारणमें उसकी शक्ति होनेका अनुभव भी हो सकता है। परंतु बीचके रजोलोकमें उसका कार्य देखना कठिन है ।

यही बात सूर्यके विषयमें भी घटती है। देखिये सूर्य द्युलोकमें है, वह प्रत्यक्ष है, भूलोकमें उसके किरण आते हैं और पदार्थ मात्रपर गिरते हैं, वहां उनकी प्रत्यक्षता है। परंतु बीचके अंतरालमें सूर्य किरण प्रत्यक्ष नहीं दीखते।

इस प्रकार पाठक विचार करके अध्यात्ममें और अधिदैवतमें मंत्रोंके अर्थ समझें। मंत्रोंका मुख्य सामान्य अर्थ इस प्रकार देखना ही वेदज्ञानके लिये अत्यंत आवश्यक है।

शब्दार्थ

त्यं (तं) = उसको।
केतु = किरण, ज्ञान।
दृशे = दर्शनके लिये।
चित्रं = विलक्षण आश्चर्यकारक।
जगत् = चलनेवाला, जंगम।
तस्थिवान् (तस्थुष्) = स्थिर, स्थावर।

——०——

पाठ ८

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
(अथर्व० १०।२।२६)

(अस्य) इसका (मूर्धानं हृदयं च) मस्तिष्क और हृदय (सं) एक करके (सीव्य) सीकर (पवमानः) पवित्र (अथर्वा) स्थितप्रज्ञ योगी (शीर्षतः अधि) सिरके ऊपर (मस्तिष्काद्) मस्तिष्कसे (ऊर्ध्वः) परे (प्रैरयत्) प्रेरित होता है। अर्थात् (१) मस्तिष्क और हृदयको एक

बनाकर सम उन्नत रखना, (२) और पवित्र बनकर मस्तिष्कके परे अर्थात् तर्ककी भूमिसे परे कूदना, ये दो उपदेश इस मंत्रमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण आगये हैं। किसी अन्य धर्मग्रंथमें इस प्रकार इस बातको साफ नहीं किया है, कि जो हृदय और मस्तिष्कको एक करनेके लिये बताया है। मस्तिष्कका कार्य तर्क-वितर्क-कुतर्क करना है, और हृदयका कार्य भक्ति करना है। दोनोंकी सम उन्नतिसे उन्नति और विषमतासे हानि होती है।

इस मंत्रका ' अथर्वा ' शब्द स्थितप्रज्ञ योगीका वाचक है। वह योगी अपने प्राणको मस्तिष्कमें चढाता है और आत्मानंदका अनुभव लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये भी हृदय और मस्तिष्कको सम उन्नत करना आवश्यक है।

प्राणद्वारा मनकी स्थिरता संपादन करनेका योगमार्ग इस मंत्रमें कहा है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

(अथर्व० १०।२।२९-३०)

जो उपासक भक्त अमृतसे वेष्टित ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और (ब्राह्माः ब्रह्मजनित इतर देवता चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। चक्षुरादि इन्द्रिय, प्राण अर्थात् आयु वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते, जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है।'

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥

(अथर्व० १०।२।२७)

अथर्वाका जो सिर है, वह (समुब्जितः देवकोशः) देवोंका सुरक्षित कोश है। प्राण उस सिरका संरक्षण करता है।'

इस प्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणशक्तिकी स्वाधीनता होनेसे शरीरकी संपूर्ण शक्तियां आधीन हो जाती हैं। और प्राणशक्तिकी स्वाधीनता करनेवालेको योगसाध्य सब सिद्धियां मिलती हैं।

प्राणके साथ मन और मनके साथ प्राण संमिश्रित हुए हैं। इसलिये प्राणके विचारके पश्चात् अब मनका विचार करना चाहिये। देखिये, मनके विषयमें ऋग्वेदके निम्न सूक्तमें क्या कहा है—

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥(ऋ. १०।५८।१)

(वैवस्वतं यमं) तेजस्वी नियमन करनेवाला (यत् ते मनः) जो तेरा मन (दूरकं जगाम) बहुत दूर गया था (तत् ते) वह तेरा मन (इह क्षयाय जीवसे) यहां निवास और जीवनके लिये (आवर्तयामसि) वापस लाता हूं।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ०।१०।५८।२)

जो तेरा मन द्युलोक और पृथिवीमें दूर दूर घूमता रहा है, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं॥

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।३)

जो तेरा मन (चतुःभृष्टिं) चारों दिशाओंमें भूमिपर दूर दूर भटकता रहता है, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं॥

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।४)

जो तेरा मन (चतस्रः प्रदिशः) चारों उपदिशाओंमें दूर दूर भटकता रहता है, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।५)

जो तेरा मन (अर्णवं समुद्रं) बडे गहन समुद्रमें दूर दूर भटकता रहा है, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।६)

जो तेरा मन (प्रवतः मरीचीः) फैले हुए किरणोंमें दूर दूर गया था, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ।

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।७)

जो तेरा मन (अपः) जल और औषधियोंमें दूर दूर भटकता रहता है, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।८)

जो तेरा मन सूर्य और उषाकी ओर दूर दूर गया था, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।९)

जो तेरा मन बडे बडे पहाडोंमें दूर दूर भटकता रहता था, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥
(ऋ० १०।५८।१०)

जो तेरा मन इस सब जगत्में दूर दूर भटकनेके लिये गया था, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ॥



पाठ ९

यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥
(ऋ० १०।५८।११)

जो तेरा मन (परावतः पराः) हमारे ज्ञानके भी परले स्थानोंमें दूर दूर भटकता रहा था, उसको यहां जीवन और निवासके लिये वापस लाता हूं ॥

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥
(ऋ० १०। ५८।१२)

जो तेरा मन भूत और भविष्यके विषयमें दूर दूर घूमता रहता था, उसको यहां निवास और जीवनके लिये वापस लाता हूं ।

मनको एकाग्र करनेके लिये किस प्रकार उसको वापस लानेका प्रयत्न होना चाहिये, इसकी सूचनाएं इस सूक्तमें पाठक देख सकते हैं । जो पाठक मनकी एकाग्रता करनेका यत्न कर रहे हैं, उनको इस सूक्तसे बहुत बोध

प्राप्त हो सकता है। मनकी एकाग्रता करनेके समय ही उसकी चंचलताका ठीक ज्ञान होता है। मन क्षणार्धमें दूर दूर भटकनेके लिये चला जाता है। उसको पुनः एक स्थानपर लानेका दृढ अभ्यास करनेके विना उसको वश करनेका और कोई उपाय नहीं है। अभ्यास और वैराग्यसे ही मनकी एकाग्रता सिद्ध होती है। अभ्यासका अर्थ वारंवार प्रयत्न करना है और वैराग्यका भाव दूसरी बातोंसे मनको हटाकर एक ही कार्यमें लगाना है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यसे मनको एकाग्रता सिद्ध होनेसे मनुष्य अद्भुत शक्तिसे युक्त होता है। यह सामर्थ्य उसको इसी समय प्राप्त होता है।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो
वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

(वा. य. ३६।२)

(१) (यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) आंखका (हृदयस्य) हृदयका (वा मनसः) और मनका (अति-तृण्णं) अत्यंत फटा हुआ (छिद्रं) छेद है, (तत्) उस (मे) मेरे दोषको (बृहस्पतिः) ज्ञानका अधिपति (दधातु) ठीक करे। (२) (यः) जो (भुवनस्य पतिः) सृष्टिका स्वामी है, वह (नः) हम सबका (शं) कल्याणकर्ता (भवतु) होवे।

(१) हमारे चक्षु आदि बाह्य इंद्रियोंमें, हृदयमें और मनमें जो न्यूनता अथवा हीनता छिपी हुई हो वह परमेश्वरकी दयासे दूर होवे। (२) तथा जगदीश हमारा कल्याण करे। हरएक मनुष्य अपने हृदय, मन और चित्तकी परीक्षा करे और देखे कि उसमें कौनसा दोष है, कौनसा छिद्र हुआ है और उसकी अवस्था कैसी है। उक्त प्रकार जहां दोषकी छाया प्रतीत हो, वहां उस दोषको हटावे और अपने हृदयको सदा शुद्ध और निर्मल रखे। क्योंकि हृदयकी शुद्धतासे ही मनुष्यकी श्रेष्ठता और अशुद्धिसे कनिष्ठता

सिद्ध होती है। हृदयकी शुद्धताके लिये ज्ञानमय सर्वज्ञ परमात्माकी भक्ति करनी चाहिये। हृदयकी शुद्धताके लिये परमात्माकी भक्तिके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है। जितनी भक्तिकी दृढता होगी, उतना मन पवित्र होगा, क्योंकि दयामय परमात्मा भक्तोंके अंतःकरणमें दोष नहीं रखते और भक्तोंको निर्दोष बनाते हैं। यदि मनमें पापविचार आ जाय, तो उसको किस प्रकार हटाना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रोंका विचार कीजिये और बोध लीजिये।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथर्व० ६।४५।१)

हे (मनः-पाप) मनके पाप! (परः) दूर (अपेहि) हट जा। (किं) क्या तू (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) बताता है? (परा इहि) हट जा। (त्वा न कामये) तुझको मैं नहीं चाहता। (वृक्षान् वनानि) वनोंमें वृक्षोंमें (सं चर) फिरता रह। (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु गोषु) घरमें और गो आदि पशुओंकी पालनामें है।

मनमें पाप विचार आ जाय, तो उसको उसी क्षण दूर हटाना चाहिये। अपनी प्रबल इच्छाशक्तिसे उस पापविचारको दूर हटाना चाहिये और कभी पापका प्रभाव अपने मनपर होने नहीं देना चाहिये। मनको शुभ विचारसे युक्त करके अपने घरकी उन्नतिमें लगाना चाहिये। अपनी उन्नति अपनेसे ही प्रारंभ होती है। दूसरोंको दोष न देते हुए अपनी शुद्धता स्वयं करनेका दृढ यत्न करना चाहिये। इस विषयमें और देखिये-

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥
(अ. २०।९६।२४)

हे (मनसः-पते) मनको पतित करनेवाले कुविचार! (अप एहि) दूर

हो जाओ, (अप क्राम) दूर भागो। (परः चर) परे चलो। (परः निर्ऋत्याः) दूरके विनाशको (आ चक्ष्व) देखो। (जीवतः मनः) जीवित मनुष्यका मन (बहु-धा) बहुत सामर्थ्यसे युक्त है।

मनके अंदर कुविचार, बुरे ख्याल आने लगे, तो उनको वहांसे उसी क्षण हटा देना चाहिये। उस बुरे विचारसे जो भविष्यत्में होनेवाली हानि होगी, उसका विचार करके, मनमें अनेक प्रकारकी शक्तियां हैं, यह स्मरण रखकर, कभी गिरावटका विचार पास नहीं आने देना चाहिये।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः॥

(ऋ० १०।१६४।२)

(वैवस्वते) तेजस्वी मन ! तू जो (वै वरं वृणते) निश्चयसे श्रेष्ठ विचार पसंद करता है, वह (भद्रं) कल्याण प्राप्त करता है। जो (दक्षिणं युञ्जन्ति) दक्षताके साथ योजना करता है, वह (भद्रं) कल्याण प्राप्त करता है। अपने (चक्षुः) आंखको (भद्रं) कल्याणकारक बनाओ। (जीवतः मनः बहु-त्रा) जीवित मनुष्यका मन बहुत समर्थ है॥

कल्याणकारक विचार ही पास करना, दक्षताके साथ सब कर्तव्य करना और चक्षु आदि सब इंद्रियोंको भलाईके मार्गपरसे ही चलाना चाहिये। मनुष्यका मन अनेक प्रकारकी धारणा करता है, इसालिये यदि वह कल्याणकी धारणा करेगा, तो कल्याण प्राप्त करेगा, इस कारण मनमें कभी बुरा विचार खडा होगा, तो मन और शरीरपर उसका बडा हानिकारक परिणाम होता है, इसलिये इस विषयमें बडी सावधानता रखनी चाहिये। इस रीतिसे मन शुद्ध होनेके पश्चात् उसकी शक्ति बढानेका यत्न करना चाहिये। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये।

मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ प्यायतां प्राणस्त आ प्यायतां।
चक्षुस्त आ प्यायतां श्रोत्रं त आ प्यायताम्॥

(वा० य० ६।१५)

हे मनुष्य ! (ते) तेरा (मनः) मन (आ प्यायतां) उन्नत होवे । तेरी वाचा उन्नत होवे। तेरा प्राण उन्नत होवे। तेरा कान उन्नत होवे।

अर्थात् मनुष्यको उचित है, कि वह अपनी शक्तियोंका विकास करे। मनुष्यके अंदर जो मन, वाणी, प्राण, आंख, कान आदि शक्तियां हैं, उन सब शक्तियोंकी उन्नति होनी चाहिये । अपनी शक्तिकी उन्नति करनेके लिये ही मनुष्यका जन्म है ।

शब्दार्थ

दूरकं = दूर ।
क्षयः = गति, निवास ।
छिद्रं = छेद, सुराख।
आतितृण्णं = अत्यन्त फटा हुआ।
अशस्त = निंदनीय ।
निर्ऋति = आपत्ति, बुरी रीति, दुष्ट व्यवहार ।

पाठ १०

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥
(अ० १६।२।४)

मेरे कान (सुश्रुतौ) उत्तम उपदेश श्रवण करनेवाले हैं, मेरे कान कल्याणकी बात सुननेवाले हैं। इसलिये मैं (भद्रं श्लोकं) कल्याणमय यशके विषयमें उपदेश (श्रूयासं) सुनूं ।

कानोंसे ऐसे उपदेश श्रवण करना चाहिये, कि जिससे सदैव अपना कल्याण हो और अपना यश बढे ।

यही नियम संपूर्ण अन्य अवयवोंके कर्मोंके विषयमें यथायोग्य रीतिसे समझना चाहिये ।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ।
(अ० १६।२।५)

(सुश्रुतिः) उत्तम बात श्रवण करना और (उपश्रुतिः) उसका अंगीकार करना, ये दो गुण (मा) मुझे (मा हासिष्टां) न छोडें, (सौपर्णं चक्षुः) गरुडके समान तीक्ष्ण दृष्टि मेरी होवे और (अजस्रं ज्योतिः) सतत तेजस्विता मुझमें वास करे ।

उत्तम उपदेश सुनना, उत्तम उपदेशके अनुसार अपना आचरण करना, सूक्ष्म दृष्टिका उदय और तेजस्विता ये चार गुण मनुष्यको अपने अंदर बढाने चाहिये ।

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥
(अ० १६।२।६)

तू ऋषियोंका (प्रस्तरः) प्रसारक है । तुझ (दैवाय प्रस्तराय) दिव्य प्रचारकके लिये नमस्कार हो ।

ऋषियोंके दिव्य ज्ञानका प्रचारक ऋषिसंतान है । जो दिव्य ज्ञानका श्रेष्ठ प्रचारक होगा उसका सत्कार करना उचित है ।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥
(अ० १६।३।१)

मैं (रयीणां मूर्धा) धनोंका सिर और समान विद्वानोंमें सिर-स्थानीय (भूयासं) हो जाऊं ।

हरएक मनुष्यको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, कि जिससे उसकी योग्यता विद्वानोंमें भी उच्च बन जाय ।

विद्या और धनका एकत्र निवास होना इष्ट है। सरस्वती और लक्ष्मी एकत्र रहे, इसीसे मनुष्यकी उन्नति होगी।

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥
(अ० १६।३।६)

मेरा हृदय (असंतापं) संतापरहित होवे। (गव्-यूतिः) इंद्रियोंकी गति (उर्वी) बडी हो। (विधर्मणा) विविध धर्मनियमोंके पालन करनेके कारण मैं (सम् उत्-द्रः) सम्यक् रीतिसे उत्कर्षके लिये गति उत्पन्न करनेवाला हूं अथवा समुद्रके समान गंभीर हूं।

हृदयसें शांति रखनी चाहिये। इंद्रियों और अवयवोंका बल वढाना चाहिये और उन्नति प्राप्त करनेके लिये सदा प्रयत्न करना चाहिये।

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥
(अ० १६।४।१)

मैं (रयीणां नाभिः) धनोंका केंद्र और समान लोगोंका मध्य (भूयासं) हो जाऊं।

अपने चारों ओर धनधान्य हो और समान विचारवाले लोक चारों ओर रहें, तथा मैं उस प्रकार सबका केंद्र बनकर रहूं यह इच्छा हरएक मनुष्यको मनसें धारण करनी चाहिये।

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥
(अ० १६।४।२)

तू (सु-आसत्) उत्तम अवस्थासे युक्त, (सूषाः) उत्तम उषःकालोंसे युक्त और मर्त्योंमें अमर है।

(१) अपनी अवस्था उत्तम करना, (२) प्रातःकाल उठकर उषःकालके पूर्व अपना कार्य करनेको सिद्ध होनेका नाम उत्तम उषःकालवाला होना है। (३) तथा मरनेवालोंमें अमरभाव अर्थात् मनुष्योंमें दैवी-शक्तिसे युक्त मन प्रकाशित रखना चाहिये।

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥

(अ० १६।२।२)

प्रजाजनों ! तुम (मधुमती स्थ) मीठे स्वभावसे युक्त हो, मुझे (मधुमतीं वाचं) मीठा भाषण करना उचित है, क्योंकि उसीसे अहिंसामय शांति सर्वत्र स्थापित होकर मीठे व्यवहारसे ही जगत् वशमें आ सकता है।



पाठ ११

असुर्य लोक

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

(यजु. ४०।३)

इस मंत्रमें " अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोकमें आत्मघातकी लोग जाते हैं " ऐसा कहा है। यहां असुर्य लोकका विचार करनेके समय निम्नलिखित उपनिषद्वचन सबसे प्रथम देखना चाहिये—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधो जनाः ॥

(बृह० उ० ४।४।११)

" जहां आनन्द नहीं है ऐसे लोग अन्धतमसे व्याप्त हैं उन लोगोंमें अविद्वान् और अज्ञानी लोग जाते हैं। " इस उपनिषद्वचनमें " असुर्या नाम " के स्थानपर " अनन्दा नाम " शब्द है और " आत्महनो जनाः " के स्थानपर " अविद्वांसोऽबुधो जनाः " ये शब्द हैं। इन

शब्दोंसे स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मघातकी लोग' वे ही हैं कि जो अविद्वान् और अज्ञानी हैं। और 'असुर्य' लोक वे हैं कि जो 'आनन्दरहित हैं' और जहां केवल कष्ट और दुःख हैं। उपनिषद्वचनोंकी तुलना करनेसे इस प्रकार अर्थ खुल जाता है। अब हम वेद मंत्रोंके प्रमाणसे 'असुर्य' शब्दका अर्थ निश्चित करते हैं। असुर्य शब्दके विषयमें अर्थका निश्चय करनेके समय लिखा गया है, अब यहां वेदमंत्रोंमें 'असुर और असुर्य' ये शब्द किस अर्थमें आये हैं इसका विचार करना है। इसलिये ऋग्वेदके एक दो मंत्र देखिये—

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववां यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥
(ऋ० १।३५।१०)

"सुवर्णके आभूषण हाथमें धारण करनेवाला, उत्तम नेता, उत्तम स्तुति करनेयोग्य, आत्मिक बलसे युक्त (असु+रः) जीवन देनेवाला देव (अर्वाङ् यातु) हमारे पास आ जावे (रक्षसः अपसेधन्) राक्षसोंका नाश करनेवाला और यातुधानोंको दूर करनेवाला प्रतिदिन स्तुतिको ग्रहण करनेवाला यह देव है।" इस मंत्रमें राक्षसोंका नाश करनेवाला देव 'असुर' शब्दसे यहां वर्णित हुआ है। इससे सिद्ध है कि यह असुर शब्द परमेश्वरका यहां वाचक है। तथा और देखिये—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः॥
(ऋ० २।२७।१०)

"हे असुर वरुण! जो देव हैं और जो मर्त्य हैं उन सबका तू राजा है।' इस मंत्रमें देवोंके ज्येष्ठ देवका नाम असुर कहा है। इस प्रकार असुर शब्द परमात्माका वाचक है, क्योंकि वही प्राणशक्तिका देनेवाला है, वही हमें जीवन देता है। इस असुर देवका अर्थात् परमात्माका जो सामर्थ्य है। वह असुर्य है। अब इस असुर्यके प्रयोग मंत्रोंमें देखिये—

धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः ।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि ॥
(ऋ० २।२७।४)

" सब भुवनोंके रक्षक और जगत्में रहनेवाले आदित्य देव इस (असुर्य) प्राणोंके बलको रक्षण करते हुए धारण करते हैं। " इस मंत्रमें परमात्माक इस असुर्य बलका धारण जगद्रक्षक आदित्यदेव करते हैं, ऐसा कहा है। और देखिये—

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ।
(ऋ० २।३३।९)

" यह भुवनोंका स्वामी ईश्वर है, उसकी (असुर्य) शक्ति इससे कोई भी छीन नहीं सकता अर्थात् यह परमात्माकी निजशक्ति होनेसे उसके पास सदा रहती है और वह इस शक्तिसे सबको जीवन प्रदान करता है। अब स्वयं परमात्मा कहता है-

अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त ।
(ऋ० ४।४२।२)

"मैं राजा वरुण हूं मेरे लिये ही वे असुर्य बल सबसे पहिले धारण किये गये थे।" अर्थात् वे सब बल परमात्माके ही हैं और उनका सब अन्य देव धारण करते हैं और उस प्राणके बलसे बलवान होते हैं। तथा और देखिये—

सत्रा वाजानामभवो विभक्ता यद्देवेषु धारयथा असुर्यम् ॥
(ऋ० ६।३६।१)

" यह ईश्वर अन्न धन अथवा बल सबको देता है और सूर्यादि देवोंके अन्दर अपना बल धारण करता है। " इस मंत्रमें कहा है कि परमेश्वर अपना बल संपूर्ण देवोंमें स्थापन करता है, अर्थात् इस बलसे सब देव बलवान होते हुए अपना कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं। सूर्यके अन्दर वही बल प्रकाशके रूपसे दिखाई देता है। वायुमें गति और अग्निमें दाहकता आदि गुण उसीके हैं, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंमें अन्यान्य शक्तियां उसीके कारण दिखाई देती है। इसी कारण कहा है कि—

मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ।
(ऋ० ८।१०१।१२)

" संपूर्ण देवोंका यह मुखिया है, इसका कारण यह है कि इसमें (असुर्यः) जीवन देनेकी शक्ति है और इसमें (मह्ना) महत्त्व भी विशेष है और इसके अन्दर न दबनेवाला व्यापक तेज है। " इसमें भी संपूर्ण देवोंका मुखिया यह असुर्य शक्तिवाला परमेश्वर है ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् परमेश्वरकी विशाल सत्ता इस असुर्य शक्तिके कारण ही सबके ऊपर हुई है। अन्य देवोंमें असुर्य शक्ति नहीं है और केवल इस परमेश्वरमें ही वह शक्ति है, इस कारण परमेश्वरका प्रभुत्व सबके ऊपर हुआ है। ये असुर्य बल कितने प्रकारके हैं इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र अवश्य देखनेयोग्य है-

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥
(ऋ० १०।५४।४)

" तेरे न दबनेवाले चार असुर्य बल हैं जिससे विविध कर्म तू करता है ॥ " इस ईश्वरकी यह अदृश्य शक्ति है इसलिये ही जगत्के अन्दर चलनेवाले अनंत कर्म वह कर सकता है। और इसी कारण वह सबमें श्रेष्ठ है।

" असुर्य " शब्द जिन मंत्रोंमें प्रयुक्त हुआ है ऐसे मंत्र अनेक हैं उनमेंसे कुछ मंत्र यहां दिये हैं। इनको देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि ' असुर्य ' शब्दका अर्थ ' जीवन शक्ति देनेवाले ईश्वरका अदृश्य बल ' ऐसा है। वेदमें इस असुर्य शब्दका दूसरा अर्थ नहीं है। ईशोपनिषद्के इस तृतीय मंत्रमें जो ' असुर्य लोक ' शब्द है उसमें यह अर्थ स्वीकृत किया जाय तो " जीवनशक्तिसे युक्त लोक " ऐसा अर्थ उस शब्दका बनेगा। जीवनशक्तिसे युक्त तो सब ही लोग हैं, सब प्राणी तो हैं ही, विशेषतः सब मनुष्य इस जीवनशक्तिसे युक्त है। अन्योंका विचार हम यहां छोड देते हैं। और केवल मनुष्योंका ही विचार करते हैं। सब मनुष्य यदि इस

असुर्य शक्तिसे युक्त हैं तो उनमें भले और बुरे सभी लोग आगये, यह स्पष्ट ही है। जिस प्रकार यह असुर्य बल सज्जनोंमें है उसी प्रकार दुर्जनोंमें भी है। यह पढकर पाठक आश्चर्यसे चकित होंगे, परन्तु इतना आश्चर्य इसमें नहीं है क्योंकि यह (असु-र्य) प्राणोंका बल जैसा सज्जनोंके शरीरोंमें कार्य कर रहा है उसी प्रकार दुर्जनोंके शरीरोंमें भी कार्य कर रहा है। क्या सज्जनोंके शरीरमें ही प्राणशक्ति है और दुर्जनोंके शरीरमें नहीं? ऐसा कोई नहीं कह सकता। प्राणमात्रमें अदम्य प्राणशक्ति है। यह प्राणशक्ति आत्माकी ही शक्ति है। ' असु ' शब्द प्राणवाचक है। ' असु-र ' शब्द प्राणशक्ति देनेवाले आत्माका वाचक, और असुर्य शब्द उसके अदम्य बलका वाचक है। इससे स्पष्ट विदित होगा कि आत्माकी असुर्य शक्ति प्राणीमात्रमें है। वह शक्ति सज्जन और दुर्जनमें समानतया व्याप्त है। दोनों स्थानोंपर वह कार्य कर रही है।

ऋग्वेदादि चारों वेदोंमें ' असुर्य ' शब्दका यही अर्थ है और दूसरा कोई अर्थ नहीं है। ऐसी अवस्थामें यजुर्वेदके ईशोपनिषद् (अ० ४०) में आये हुए ' असुर्य ' शब्दका भिन्न अर्थ मानना कठीन है। वेदमें किसी एक स्थानपर आये ' असुर्य ' शब्दका भी भिन्न अर्थ होता, तो ईशोपनिषद्के ' असुर्य ' शब्दका अर्थ भी भिन्न मानना संभव होता, परंतु वेदके असुर्य शब्दवाले संपूर्ण मंत्र हमने देखे हैं। उनमें एकका भी अर्थ इससे भिन्न नहीं है, इसलिये ईशोपनिषद्के इस ' असुर्य ' शब्दका अर्थ ' आत्माकी जीवनशक्ति ' ऐसा ही मानना उचित है।

यह अर्थ लेनेपर भी बुरे और भले लोगोंकी व्यवस्था उत्तम प्रकार हो जाती है, ' अन्धतमसे व्याप्त असुर्य लोक ' और " आत्मप्रकाशसे प्रकाशित असुर्य लोक " ऐसे दो भेद, इसके माननेसे इस शब्दका ठीक अर्थ ध्यानमें आसकता है। इस विषयमें अधिक विवेचन पूर्व स्थानमें लिखा ही है। इसलिये अब इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।